# चतुर्थ अध्याय

## राजपुत्रवत्तत्त्वोपदेशात्॥ १ ॥

(तत्त्वोपदेशात्) गत अध्याय के अन्तिम सूत्र से विवेक यहां लक्षित है। विवेक तत्त्वोपदेश से=यथार्थोपदेश से (राजपुत्रवत्) राजपुत्रों की भांति हो जाता है। जैसे अनेक राजपुत्रों, राजवंशजों जनक आदि को पञ्चशिख आदि के अध्यात्मोपदेश से हो गया था। ब्राह्मणों को ही परम्परा से विवेक हुआ, ऐसा नहीं; किन्तु क्षत्रियों और राज्यसञ्चालन में प्रवृत्त राजवंशजों को भी विवेक हो गया, यह तत्त्वोपदेश का माहात्म्य है॥ १ ॥

केवल साक्षात् ही उपदेश लेने से या केवल क्षत्रियवंशज तक ही उपदेश से विवेक होता है ऐसा नहीं, किन्तु—

## पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि॥ २ ॥

(अन्यार्थोपदेशे—अपि) दूसरे को दिए जाते हुए उपदेश पर भी (पिशाचवत्) समीपस्थ श्रोता को भी उपदेश से विवेक हो जाता है, पिशाच की भांति। जैसे अर्जुन को कृष्ण द्वारा उपदेश देते हुए समीपस्थ जंगली अतिशूद्र भील को विवेक हो गया था, या जैसे पार्वती को शिवद्वारा उपदेश दिए जाते हुए समीपस्थ पर्वतीयजन शूद्र सेवक को विवेक हो गया था॥ २ ॥

साक्षात् तथा असाक्षात् उपदेश से विवेक हो जाता है यह तो हुआ, परन्तु कदाचित् सकृत्—उपदेश से विवेक हो जाता है और कभी सकृत् उपदेश से नहीं भी होता, तब तो—

## आवृत्तिरसकृदुपदेशात्॥ ३ ॥

(असकृत्—उपदेशात्—आवृत्तिः) पुनः-पुनः उपदेशग्रहण से आवृत्ति करनी चाहिए, पुनः पुनः उपदेश सुनना चाहिए। जैसे—"**भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु**" (छान्दो० ६।५।४)। श्वेतकेतु आरुणि ने पुनः पुनः उपदेश ग्रहण किया॥ ३ ॥

तथा किसी को घटना के प्रभाव से विवेक हो जाता है—

## पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात्॥ ४ ॥

(पितापुत्रवत्—उभयोः—दृष्टत्वात्) पिता की मृत्यु और पुत्र का

जन्म जैसे होता है, वैसे मेरा भी जन्म हुआ और मृत्यु होना है। क्योंकि पिता की मृत्यु और पुत्र के जन्म दृष्ट हैं। पिता की मृत्यु भी देखी पुत्र का जन्म भी देखा—''आत्मनः पितृपुत्राभ्यामनुमेयौ भवात्ययौ'' तब इस जन्म-मरण चक्रयुक्त संसार में केवल जन्म और मरण ही पुरुषार्थ नहीं, ऐसा समझकर वैराग्यवान् हो विवेक को प्राप्त करता है॥ ४॥

विवेक से विषयों का त्याग करना चाहिए, यह दृष्टान्त से कहते हैं—

**श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम्॥ ५॥**

(श्येनवत् सुखदुःखी) मांसभक्षक पक्षी श्येन=बाज की भांति विषयग्रस्त जन सुखी और दुःखी होता है, (त्यागवियोगाभ्याम्) विषयों के त्याग से और वियोग से। स्वयं विषयत्याग से सुखी होता है अन्यथा विषयवियोग से दुःखी होता है। जैसे श्येन=मांसलोलुप बाज पक्षी मांससहित आकाश में उड़ता हुआ दूसरे बलवान् मांसभक्षक पक्षियों से मांस छीनने को घेरा हुआ, मांस टुकड़े के त्याग से सुखी होता है। नहीं तो बल से विमुक्त किया हुआ दुःखी हो जाता है, क्योंकि दूसरों से या तो मारा जाता है, या आघात को प्राप्त होता है, कहा है—''सामिषं कुररं जघ्नुर्बलिनोऽन्ये निरामिषाः। तदामिषं परित्यज्य स सुखं समविन्दत॥''

वैसे ही विवेक से विषयत्याग श्रेष्ठ है और सुख का निमित्त है। अन्यथा विषयवियोग स्वभावतः अवश्य होना है, उससे दुःखभागी बनता है। अतः विवेक से विषयत्याग करना चाहिए॥ ५॥

त्याज्य के त्याग में ही विवेकी को सुख होता है, यह अहि-दृष्टान्त से कहते हैं—

**अहिर्निर्ल्वयिनीवत्॥ ६॥**

(अहिः—निर्ल्वयिनीवत्) जैसे सर्प पुरानी केंचुली को त्याग कर सुखी होता है वैसे विवेकी जन बहुत काल तक भोगी हुई भोगसृष्टि को विवेक से त्याग कर सुखी होता है॥ ६॥

भोगसृष्टि के त्याग में दूसरा दृष्टान्त दिया जाता है—

**छिन्नहस्तवद् वा॥ ७॥**

(वा) अथवा (छिन्नहस्तवत्) जैसे कोई जन और सर्प से डसे हुए या विषाक्त हाथ वाला [त्यजेत्] विष से आक्रान्त हाथ को कटाकर सुखी हो जाता है, मृत्यु से बच जाता है। वैसे ही देख लिये दोष जिस

सृष्टि के उसे विषसमान समझ, त्याग कर सुखी हो जाता है। भोग विष समान हैं। कहा भी है—''विषस्य विषयाणां च दृश्यते महदन्तरम्। उपभुक्तं विषं हन्ति विषया: स्मरणादपि॥''॥ ७॥

त्यागे हुए या त्यागने योग्य का अनुचिन्तन अनिष्टकर है--

**असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत्॥ ८॥**

(असाधनानुचिन्तनम्) जो विवेकज्ञान का साधन नहीं या अनुचित साधन है, उस त्यागे हुए या त्यागने योग्य का अनुचिन्तन मन में स्थापित करना (बन्धाय भरतवत्) बन्धन के लिये होता है भरत की भांति। जैसे भरत राजर्षि ने हरिण के बच्चे का मन में स्थापन किया तो उसका बन्धन हो गया जिससे वह मोक्षभागी न बन सका॥ ८॥

विषय का अनुचिन्तन न करने पर भी बहुत सम्मेलन न करना चाहिए, यह दृष्टान्त से कहते हैं—

**बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत्॥ ९॥**

(बहुभि:—योगे) बहुत जनों के साथ सङ्ग, सम्मेलन में विरोध-कलह हो जाता है (रागादिभि:) उन में रागद्वेष आदि भाव वर्तमान होने से। होते हैं ही जनों में राग, द्वेष, मोह, अत: विरोध सम्भावित है (कुमारीशङ्खवत्) जैसे कुमारी के पैरों में [शंखमय] घुंघरू परस्पर संघर्षण से बहुत शब्द करते हैं और टूटते-फूटते हैं। अत: विवेकी को बहुतों से सम्मेलन न करना चाहिए॥ ९॥

अपितु—

**द्वाभ्यामपि तथैव॥ १०॥**

(द्वाभ्याम्—अपि तथा—एव) दो के साथ भी वैसा ही रागादि से विरोध या दोष होना सम्भव है। अत: विवेकी को एकाकी रहना ठीक है॥ १०॥

यदि दो के साथ भी न बसे, तब एकाकी कैसे रहे ? इस आकांक्षा पर कहते हैं—

**निराश: सुखी पिङ्गलावत्॥ ११॥**

(निराश: सुखी) विवेकी जन आशा को छोड़कर सुखी हो जाता है (पिङ्गलावत्) पिङ्गला की भांति। पिङ्गला कोई वेश्या ऐसे काल में हुई जब कि सदाचार की प्रधानता थी। जैसे—''**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुत:**'' (छान्दो०

५।११।५) तब वह कामुक जनों की चाहने वाली कामुकों की प्रतीक्षा करती हुई किसी भी कामुक को न प्राप्त करके पिङ्गला—सर्पिणी के समान लम्बे-ऊर्ध्व श्वास ले ले कर फुंकारती हुई महती व्याकुल रहती थी। पुनः वह महात्मा के उपदेश से आशा त्यागकर सुखी हो गई। पिङ्गला नाम योगवश है कामुकों को अप्राप्त कर वह पिङ्गला सर्पिणी की भांति ऊर्ध्वश्वास ले ले रहती थी। अतः विवेक से विषयवासना त्याज्य है। वासना से चित्त का स्वाभाविक प्रसाद दबा रहता है, वासना हट जाने से स्फुट हो जाता है। जैसे कहा भी है—"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥" (योग० २।४२ व्यास) अर्थात् जो लोक में काम-सुख है और जो बड़ा दिव्य सुख है, वे ये तृष्णाक्षय सुख की सोलहवीं कला की बराबरी भी प्राप्त नहीं कर सकते॥ ११॥

एकाकी विवेकी को स्वयं भी घर आदि का झगड़ा न सम्भालना चाहिए किन्तु—

**अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत्॥ १२॥**

(अनारम्भे—अपि) विवेकी जन अपना घर आदि न रखने पर भी (परगृहे) दूसरे के घर में (सुखी सर्पवत्) सुखी होता है, सर्प की भांति। जैसे सर्प अपना घर नहीं बनाता प्रत्युत सुखी होता है, घर बनाने के साधन भार की चिन्ता से रहित होता है। वैसे ही विवेकी जन घर आदि साधन जुटाने की चिन्ता से रहित होता है, घर के ममत्व से भी विमुक्त रहता है॥ १२॥

अच्छा, तो फिर जहां-तहां विचरता हुआ विवेकी क्या करे? यह कहते हैं—

**बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत्॥ १३॥**

(बहुशास्त्रगुरूपासने—अपि) अनेक शास्त्रों का अध्ययन होने और गुरुओं से सत्सङ्गप्राप्ति पर भी (सारादानं षट्पदवत्) भ्रमर की भांति सार का ग्रहण विवेक के दृढतार्थ करे, जैसे भ्रमर अनेक फूलों से सार= रसमात्र ग्रहण करता है॥ १३॥

सार को प्राप्त कर एकाग्रमन वाला हो। क्योंकि—

**इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः॥ १४॥**

(इषुकारवत्—एकचित्तस्य) इषुकार=इषुप्रक्षेप्ता=इषुप्रयोगकर्ता। "कृ

विक्षेपे'' (तुदादि०) ''कृञ् करणे'' (तनादि०) ''**कृञ्.....निक्षेपणे चापि वर्तते। कटे कुरु, घटे कुरु, अश्मानमितः कुरु, स्थापयेति गम्यते**'' (महाभाष्य० १। ३। १) इससे इषुकार का अर्थ इषुप्रक्षेसा। तथा ''**कन्याया दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः**'' (वाराहगृह्य सूत्र० ख० १३) में मन्त्रकार अर्थात् मन्त्रप्रयोगकर्ता ब्रह्मा ऋत्विक् है। वैसे यहां भी इषुकार=इषुप्रयोगकर्ता=बाण को चलाने वाला है। बाण को फेंकने वाला या बाण को चलाने का प्रयोग करने वाला एकचित्त जैसे होता है, उस समय वह लक्ष्य को छोड़ अन्यमना नहीं होता वैसे ही एक चित्त हुए विवेकी की (समाधिहानिः—न) समाधि हानि नहीं होती है॥ १४॥

फिर वह विवेकी व्रत-नियम-परायण रहे, क्योंकि—

**व्रतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत्*॥ १५॥**

(व्रतनियमलङ्घनात्) व्रत हैं—अहिंसा आदि पांच, और नियम भी शौच आदि पांच, उनके लङ्घन से=त्याग से (आनर्थक्यं लोकवत्) अनर्थकता का प्रसङ्ग हो जाता है लोक की भांति, जैसे लोक में व्रतनियमभङ्गी अनर्थभागी बन जाता है, लोकव्यवहार से गिर जाता है, वह अर्थफल का भागी नहीं बनता है, वैसे ही विवेकी मुमुक्षु व्रतों=नियमों के भङ्ग से अनर्थभागी बनता है, स्वपुरुषार्थ से च्युत हो जाता है॥ ५॥

न केवल व्रत-नियमों के लङ्घन से अनाचरण से ही अनर्थभागी बनता है, किन्तु—

**तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत्॥ १६॥**

(तद्विस्मरणे—अपि) व्रतनियमों के विस्मरण हो जाने पर भी (भेकीवत्) मेण्डकी की भांति अनर्थभागी होता है। मेण्डकों का वर्षपर्यन्त वर्षा होने तक नैसर्गिक व्रत मौन है और नियम गुप्त निवास है। वर्षा ऋतु में ही भाषण और बाहिर आना उनका होता है, पूर्व नहीं। वेद में कहा है—''**संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥**'' (ऋ० ७। १०३। १) किन्तु उस व्रत और नियम का विस्मरण कर कोई मेण्डकी गुप्तस्थान से बाहिर आ गई और ऊंचे से बोलने लगी। उस का शब्द सुनकर और बाहिर आई हुए को देखकर उसे सर्प ने पकड़ खा लिया। ऐसे जो विवेकी मुमुक्षु अपने व्रतनियमों का विस्मरण करता है वह भी निःसन्देह नष्ट-भ्रष्ट हो जाता

* 'व्रतनियमलङ्घनात्' अनिरुद्ध का पाठ है।

है ॥ १६ ॥

पन्द्रहवें और सोलहवें सूत्रों का यह अर्थ पन्द्रहवें सूत्र में अनिरुद्धपाठ को लेकर था किन्तु विज्ञानभिक्षु के पाठ को लेकर अब उन दोनों सूत्रों का व्याख्यामार्ग दिखलाते हैं—

विवेकी मुमुक्षु को किए हुए नियम पर तत्पर रहना चाहिए, यह कहते हैं—

**कृतनियमलङ्घनादानर्थक्यं लोकवत्* ॥ १५ ॥**

(कृतनियमलङ्घनात्) जो ही विवेकी मुमुक्षु के लिये शास्त्र में नियम निर्दिष्ट किया है, बतलाया है, उसका विवेकी मुमुक्षु को अवश्य धारण और पालन करना चाहिये। क्यों कि धारण किए हुए नियम के उल्लङ्घन से तो (आनर्थक्यं लोकवत्) अनर्थकता=बन्धता को प्राप्त हो जाता है, लोक की भांति। जैसे लोक में स्वास्थ्यलाभ के लिये किए नियम का उल्लङ्घन करके अनर्थ को प्राप्त होता है, अर्थात् रोग को प्राप्त होता है ॥ १५ ॥

केवल किए नियम के उल्लंघन से ही अनर्थ को प्राप्त होता है, ऐसा ही नहीं है, किन्तु—

**तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥ १६ ॥**

(तद्विस्मरणे—अपि भेकीवत्) 'भेकी' यह नाम गुणों के कारण किसी सुकुमारी राजकुमारी का है, वह भेकी=मेण्डकी के समान जल में देर तक डुबकियाँ लगाते रहने के व्यसनवाली हो गई, अतः वह गुणानुसार 'भेकी' नाम से प्रसिद्ध हो गई। वह सुकुमारी राजकुमारी बहुत सौन्दर्ययुक्त थी। जल में कहीं डूब न जावे इस भय के कारण माता, पिता, राजा, राणी तथा अन्य रक्षिकाओं से अति प्रयत्न से रक्षा रखी जाती थी। पुनः उसका विवाह योग्य राजकुमार के साथ कर दिया गया और उसके जल में डुबकियां लगाने के व्यसन को भी राजकुमार को बतलाकर जल से भय सूचित किया कि इसे कहीं जल में प्रवेश न करने देना। वह राजकुमार भी कृतनियम=कृतप्रतिज्ञ हो गया कि मैं इसे जल में न प्रवेश करने दूंगा। पुनः किसी समय मृगयार्थ उसे साथ ले गया, वहां जंगल में बहुत भ्रमण की थकावट से और गरमीताप को न सह सकने से व्याकुल होकर उसने जलपान और स्नान के लिये राजकुमार से जलाशय पूछा, राजकुमार ने

* 'कृतनियमलङ्घनाद्' यह पाठ विज्ञानभिक्षु का है।

शीघ्रतावश उस किए नियम को भूलकर महान् जलाशय बतला दिया। वह राजकुमारी तुरन्त वेग से उसमें प्रविष्ट होकर डूब गई। राजकुमार देर तक खोज करने पर भी उसे न पा सका। पुनः वह गहन शोकसागर में डूब गया और शान्ति प्राप्त न कर सका। इस व्याख्या में 'भेकीवत्' वत् प्रत्यय सप्तमी विभक्ति में है—"तत्र तस्येव" (अष्टा० ५। १। ११६)। इसी प्रकार जो कोई विवेकी मुमुक्षु अपने कृतनियम=करी प्रतिज्ञा को भूलेगा तो वह अवश्य शोकसागर में गिरेगा॥ १६॥

विवेकसम्पन्न की चर्चा का विधान करने के अनन्तर अब विवेकप्राप्ति के लिये श्रवण आदि निर्दिष्ट किया जाता है—

**नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत्॥ १७॥**

(उपदेशश्रवणे—अपि) यद्यपि उपदेश-श्रवण आवश्यक और अनिवार्य है, बिना श्रवण के ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु केवल श्रवण ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि उपदेश-श्रवण होने पर भी (कृत्यकृत्यता न) कृतकृत्यता=सफलता नहीं होती (परामर्शात्—ऋते) परामर्श यहां मनन-निदिध्यासन के अर्थ में है। श्रवण के अनन्तर मनन-निदिध्यासन भी अवश्य होने चाहिएं। उनके बिना कृतकृत्यता नहीं होती (विरोचनवत्) विरोचन की भांति। जैसे प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन ने अध्यात्मोपदेश का श्रवण किया। विरोचन ने श्रवण के अनन्तर मनन-निदिध्यासन नहीं किया, अतः वह कृतकृत्यता प्राप्त न कर सका॥ १७॥

किन्तु—

**दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य॥ १८॥**

(तयोः—इन्द्रस्य दृष्टः) उन दोनों इन्द्र और विरोचन में से इन्द्र का परामर्श=मनन-निदिध्यासनरूप अभ्यास देखा गया, अतः इन्द्र ने कृतकृत्यता प्राप्त की॥ १७॥

तथा श्रवण से ज्ञानसिद्धि विधिपूर्वक आचरण करने से होती है विधिहीन की नहीं, यह कहते हैं—

**प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत्॥ १९॥**

(प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि बहुकालात् कृत्वा) प्रणति=गुरु के प्रति नम्रभावना, ब्रह्मचर्यसेवन, उपसर्पण=गुरु की सेवा श्रद्धा से बहुत काल

तक करके (सिद्धिः—तद्वत्) ज्ञानसिद्धि=ज्ञानलाभ होता है, इन्द्रवत्—इन्द्र की भांति। जैसे इन्द्र ने बहुत काल तक उनका सेवन करके ज्ञान लाभ प्राप्त किया। गुरुभक्ति, और उससे ज्ञानप्राप्ति श्रुति में भी प्रदर्शित की है—"**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**" (श्वेता० ६। ६३) अर्थात् जिसकी ईश्वर में ऊंची भक्ति=अनुराग है और जैसी ईश्वर में वैसी गुरु में भी है, उसके सब कहे हुए अर्थ, ज्ञानलाभ प्रकाशित होते हैं॥ १९॥

क्या नम्रता आदि से श्रवण बहुत काल तक करना अनिवार्य है। इस आकांक्षा पर कहते हैं—

**न कालनियमो वामदेववत्॥ २०॥**

(कालनियमः=न वामदेववत्) विवेकसिद्धि में कालनियम नहीं है। किसी को शीघ्र, किसी को देर में, किसी को इसी जन्म में, किसी को अगले जन्म में विवेकसिद्धि होती है, वामदेव की भांति। वामदेव को जैसे इसी जन्म में विवेकसिद्धि हो गई, पूर्वजन्म में किए साधनानुष्ठान से। कहा है—"**तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवमहं सूर्यश्च**" (बृह० १। ४। १९)=जैसे उस इसको देखते हुए, जानते हुए ऋषि वामदेव ने प्राप्त किया कि मैं मनु हुआ और वेदार्थप्रकाशक सूर्य=ऋषि भी हुआ॥ २०॥

वस्तुतः—

**अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव॥ २१॥**

(पारम्पर्येण) श्रवण-मनन-निदिध्यासन-साक्षात्कार रूप परम्परा क्रम से (अध्यस्तरूपोपासनात्) अध्यस्त=गुरु या शास्त्र द्वारा अधिक्षिप्त=प्रस्तावित* परमात्मस्वरूप की उपासना से विवेकसिद्धि होती है, उस में काल अपेक्षित है ही, (यज्ञोपासकानाम्—इव) जैसे यज्ञकर्मानुष्ठानियों की यज्ञविधियों के क्रम से अनुष्ठान द्वारा अभ्युदयसिद्धि होती है उस में काल अपेक्षित है॥ २१॥

यदि यही है कि परम्परा से विवेक सिद्ध होता है तो यज्ञोपासकों को भी परम्परा से उत्कृष्ट लोक की सिद्धि होती है। तब यज्ञ ही

---

* यहां 'अध्यस्त' अपि—असु क्षेपणे (दिवादि०) 'गुरुणा यदध्यस्तम्' (अनिरुद्धः)=गुरु ने उपदिष्ट किया। "अध्यस्तोपदिष्टस्य" (महादेव वेदांती)।

उपासनीय=सेवनीय है। इस के उत्तर में कहते हैं—

**इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥ २२ ॥**

(इतरलाभे—अपि) यज्ञानुष्ठान से उत्कृष्ट लोकप्राप्ति में भी (आवृत्तिः) आवृत्ति=आवर्तन=जन्मधाराणार्थ लौटना होता है (पञ्चाग्नि-योगतः—जन्मश्रुतेः) पाञ्च अग्नियों=पारिभाषिक पांच अग्निसम्बन्ध से जन्म की श्रुति होने से '**असौ वाव गौतमाग्निः·····योषा वाव गौतमाग्निः..... 'तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति**'' (छान्दो० ५। ४। १—८। २) देवयान मार्ग से लौटकर जन्मता है। अतः यज्ञानुष्ठान विवेकसाधन वा मोक्षसाधन नहीं है। विवेकी के लिये वह उपदेश नहीं है॥ २२॥ किन्तु—

**विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥ २३ ॥**

(विरक्तस्य) विवेक को प्राप्त किये हुए का (हेयहानम्—उपादेयोपादानम्) छोड़ने योग्य का छोड़ देना और ग्रहण करने योग्य का ग्रहण करना आवश्यक कार्य है (हंसक्षीरवत्) जैसे हंस जल-मिश्रित दूध में से जल छोड़ देता और दूध ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार विरक्त विवेकी आवृत्ति के निमित्त को छोड़ देता है और मुक्ति के निमित्त को ग्रहण कर लेता है॥ २३॥ क्योंकि—

**लब्धातिशययोगात् तद्वत् ॥ २४ ॥**

(लब्धातिशययोगात्) विरक्त ही विवेक में अत्यधिक सम्बन्ध को प्राप्त हुआ होता है=उसने विवेक में अत्यधिक योग=युक्ति योग्यता प्राप्त की हुई होती है। उस विरक्त में विवेक के विवेचनीय=पृथक्-पृथक् वस्तुज्ञान के त्याज्य और ग्राह्य के पृथक्-पृथक् करने की योग्यता होती है (तद्वत्) हंस के समान॥ २४॥

अविरक्त की तो—

**न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् ॥ २५ ॥**

(रागोपहते) अविरक्त राग से घिरा हुआ राग के वशीभूत होता है। उस ऐसी अवस्था में (कामचारित्वं न) त्याज्य के त्यागने और ग्राह्य मार्ग के ग्रहण करने या त्याज्य मार्ग के त्यागने को और ग्राह्य मार्ग के ग्रहण करने में यथेष्ट सञ्चारिता=स्वतंत्रता नहीं होती है (शुकवत्) तोते की भांति। जैसे तोता पक्षी पिञ्जरे में घिरा हुआ यथेष्ट कामचारी नहीं होता

* 'बद्धः' विज्ञानभिक्षु का, 'बन्धः' अनिरुद्ध का।

उसकी यथेष्ट गमनस्वतन्त्रता नहीं होती। वैसे ही पुरुष भी रागरूप पिञ्जरे में बन्धा हुआ कामचारी नहीं होता॥ २५॥

कैसे फिर रागरूप पिञ्जरे में पुरुष बन्धा? यह कहते हैं—

**गुणयोगाद् बद्धः * शुकवत्॥ २६॥**

(शुकवत्—गुणयोगात्—बद्धः) जैसे तोता पक्षी मधुर-भाषण आदि गुण के वश लोह के पिञ्जरे में बन्ध गया, वैसे पुरुष भोक्तापन के गुण सम्बन्ध से रागरूप पिञ्जरे में बन्धा है॥ २६॥ परन्तु—

**न भोगाद् रागशान्तिर्मुनिवत्॥ २७॥**

(भोगाद्—रागशान्तिः—न) भोग से राग की शान्ति कदापि नहीं होती (मुनिवत्) जैसे सौभरि मुनि की भोग से रागशान्ति न हुई। कहा है सौभरि ने—"आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिदं मयाऽद्य। मनोरथासक्तिपरस्य चित्तं न जायते वै परमार्थसङ्गि॥" [विष्णु पु० ४। २। ११९]=मृत्यु तक मनोरथों का अन्त नहीं यह मैंने आज जाना, मनोरथ में आसक्तिपरायण का चित्त परमार्थभागी नहीं बनता॥ २७॥

तो किस उपाय से रागशान्ति हो? यह कहते हैं—

**दोषदर्शनादुभयोः॥ २८॥**

(उभयोः—दोषदर्शनात्) दोनों अर्थात् भोक्तापन और भोग्य-पदार्थ के दोष दर्शन से। भोक्तापन के दोष पुनर्जन्म, गर्भवास, मरणभय, भिन्न-भिन्न योनिप्रवेश तथा भोग्यपदार्थ के दोष परिणाम, विकारी, अस्थिर, नाश से शोकप्रद, भोग से अतृप्ति, परपीड़ा। इन दोषों को देखने से राग-शान्ति होती है। उन में दोषभावना से राग निवृत्त हो जाता है। कहा है—**'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥"** (मनु० २। ९४)=कामना कभी कामनाओं के उपभोग से शान्त नहीं होतीं किन्तु हवि से अग्नि की भांति बढ़ती चली जाती हैं। तथा **"विषयाणामर्जनरक्षणक्षयसंगहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणम्"** (योग० २। ३० व्यास)=विषयों के संग्रह, रक्षण, नाश, भोग, परपीड़ा रूप दोषों के दर्शन से स्वीकार न करना चाहिए॥ २८॥

राग होने पर तो—

**न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्॥ २९॥**

(मलिनचेतसि) राग से चित्त मलिन होजाता है, मलिन चित्तवाले के अन्दर (उपदेशबीजप्ररोहः—न) उपदेशबीज का उगाव अंकुरप्रादुर्भाव

नहीं होता। (अजवत्) जैसे भार्या के राग से भरे अज नामक राजा के चित्त के अन्दर वसिष्ठ के उपदेश से शान्ति और स्थिरता का प्रादुर्भाव नहीं हुआ॥ २९ ॥ अपितु—

**नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत्॥ ३० ॥**

(आभासमात्रम्—अपि न) रागलिप्त चित्तवाले जन में तो उपदेश का आभासमात्र भी नहीं होता (मलिनदर्पणवत्) मलिनदर्पण की भांति; जैसे मलिन दर्पण में=मल से लिप्त दर्पण में किसी वस्तु का आभास भी प्रतिबिम्बित नहीं होता॥ ३० ॥

अपितु रागलिप्त मलिन चित्त में उपदेश का अन्यथाभाव हो जाता है। क्योंकि—

**न तज्जस्यापि तद्रूपता पंकजवत्॥ ३१ ॥**

(तज्जस्य—अपि) तद्भव का=जो बोया उस से उत्पन्न हुए की भी (तद्रूपता न) उस जैसी रूपता नहीं होती (पंकजवत्) जैसे उत्तम बीज कीचड़ में बो देने से वैसा उत्तमगुणरूप नहीं होता। अतः रागलिप्त मलिनचित्त में उत्तम उपदेश का भी अन्यथाभाव होने से वह उलटा समझता है॥ ३१ ॥

अच्छा, विषयों का राग हानिकारक हो, परन्तु जो योगाभ्यास से विभूतियों=विविध सिद्धियों की प्रवृत्ति है उससे कृतकृत्यता हो, या फिर क्या महाप्रयत्न विवेक से उपास्य को धारण करने से?

इस विषय में कहते हैं—

**न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवत्॥ ३२ ॥**

(भूतियोगे—अपि) विभूतियोग=विविधसिद्धियों की प्राप्ति में भी (कृतकृत्यता न) कृतकृत्यता नहीं है (उपास्यसिद्धिवत्) जैसे कृतकृत्यता विवेक से उपास्यसिद्धि=ब्रह्मसम्पत्ति में होती है। क्योंकि विविध सिद्धिप्राप्ति में पुनरावृत्ति होती है और विवेक से उपास्यसिद्धि में मोक्ष होता है॥ ३२ ॥

**सांख्यदर्शन में स्वामी ब्रह्ममुनिभाष्यसहित**
**चतुर्थ अध्याय समाप्त।**

❑❑